

## जैन-दर्शन में अपरिग्रह और उसका मनोविज्ञान

### सारांश

अपरिग्रह साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक व्रत है। अपरिग्रह सामान्य अर्थ में वस्तुओं का त्याग है। परिग्रह हिंसा का एक आयाम है एक हिंसक व्यक्ति ही परिग्रही हो सकता है। परिग्रही को मोक्ष नहीं मिल सकता। परिग्रही चित्त हमेशा आशा से बँधा रहता है अतः वासनामय होकर बंधता जाता है बंधन के साथ निर्वाण असंभव है। वासनामय चित्त आनंद खो देता है अतः अपरिग्रही होना आवश्यक है।

**मुख्य शब्द** : अपरिग्रह, मूर्छा, आसक्ति, कर्म-बंध, मोक्ष, अनेकान्त, उत्सर्ग, पुद्गल, संग्रह।

### प्रस्तावना

जैन-दर्शन में वर्णित पंच महाव्रत में एक महाव्रत अपरिग्रह है। यह साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक है। महावीर कहते हैं हर एक आत्मा मोक्ष की अधिकारिणी है उसे मोक्ष अनिवार्य है और उसे मोक्ष जाना ही है। उसकी अंतिम मंजिल मोक्ष ही है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसके लिए अत्यंत आवश्यक है कि व्यक्ति मोक्ष-योग्य परिस्थितियों का निर्माण करे। परिस्थितियों में बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थिती दोनों अनिवार्य है। इन दोनों में जो अनिवार्य है वह है-मनुष्य, जिसे ये लक्ष्य साधना है।

### अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध का उद्देश्य परिग्रह की प्रकृति जानते हुए इससे व्यक्ति के मन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है। परिग्रह की प्रकृति किस प्रकार से मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, परिग्रह किस प्रकार निरन्तर द्वन्द, तनाव की स्थिति निर्मित करता है, इसका इस शोध में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाना है।

### साहित्यावलोकन

परमार्थ, अपरिग्रह और उदारता आनंद साम्राज्य की कुंजियां हैं (अवधेशानंद गिरी 2008)। परिग्रह संचय की प्रवृत्ति है, परिग्रह वृत्ति का जन्म आसक्ति एवं आकांक्षा की कोख से होता है (अखंड ज्योति 2014) वहीं ब्रज कुमार मिश्र (2016) का मानना है असामान्यता का मूल अपरिग्रह है, अतः अत्यधिक धन लोलुप नहीं होना चाहिए इससे मनुष्य असामान्यता की तरफ बढ़ता है। विद्यासागर (2018) कहते हैं कि अपरिग्रह न केवल तीर्थंकरों के लिए वरन समाज कल्याण में भी जरूरी है।

### अपरिग्रह की परिभाषा

अपरिग्रह का अर्थ वस्तुओं के त्याग से लगाया जाता है पर यह बिलकुल ही सामान्य अर्थ है। जैन-दर्शन के इस व्यापक और महत्वपूर्ण शब्द की उपयोगिता का प्रभाव भारतीय संस्कृति की सभी प्रभावशाली परम्पराओं पर पड़ा, जिससे सबसे ज्यादा प्रभावित परम्परा योग है।<sup>1</sup>

‘अपरिग्रह’ शब्द संस्कृत से आया है। इस शब्द का अर्थ “सीमित स्थायित्व”<sup>2</sup> से लिया जाता है। मूल शब्द परिग्रह है, इसमें ‘अ’ जोड़कर इसे निषेधात्मक बनाया गया है। अतः अपरिग्रह भी एक निषेधात्मक वाक्य है।<sup>3</sup>

अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह को समझना आवश्यक है। परिग्रह के संबंध में बड़ी भ्रँतियां हैं, परिग्रह का अर्थ वस्तुओं का होना नहीं होता अपितु परिग्रह का अर्थ होता है- वस्तुओं पर मालकियत की, स्वामित्व की भावना का होना।<sup>4</sup>

“जैन धर्म भाव-प्रधान है तथा जैनदर्शन भावना-प्रधान” (प्रमाणसागर,1998)।<sup>5</sup> अतः भावनाओं पर नजर रखना अति आवश्यक है, यही भावनायें अपने साथ व्यक्ति को रसातल में ले जाती हैं। व्यक्ति के पास कितनी वस्तुएँ हैं इससे कुछ भी पता नहीं चलता, इससे कुछ निर्धारित भी नहीं होता अपितु व्यक्ति किस दृष्टि से, किस भाँति उन वस्तुओं से संबंधित है, सबकुछ इस भावना पर, इस दृष्टि पर निर्भर करता है। “व्यक्ति वस्तुओं के प्रति ही नहीं वरन्



**रजत कुमार जैन**

सह- प्राध्यापक,  
शिक्षा शास्त्र विभाग,  
अपोलो महाविद्यालय,  
अंजोरा, दुर्ग, छत्तीसगढ़,



**सुमनलता सक्सेना**

सहायक प्राध्यापक,  
शिक्षा शास्त्र विभाग,  
कल्याण पी जी महाविद्यालय,  
भिलाई, छत्तीसगढ़

व्यक्ति (पिता, पुत्र, माँ, पति, पत्नि, मित्र, शत्रु) वस्तु (पैसा, जायदाद, घर, किताबें, भौतिक चीजें), भावनाओं (सुख, दुःख), रूप, रस, गंध, रंग, स्वाद, दृष्टि(अच्छी एवं बुरी) आदि के प्रति भी परिग्रही होता है"।<sup>6</sup>

### परिग्रह के विभिन्न रूप

"परिग्रह हिंसा का ही एक आयाम है" (ओशो, 2003)<sup>7</sup>। एक हिंसक व्यक्ति ही परिग्रही हो सकता है। जैसे ही कोई व्यक्ति किसी वस्तु पर स्वामित्व की बात कहता है, वैसे ही वह गहरी हिंसा में प्रवेश कर जाता है। बिना हिंसक हुए किसी पर अधिकार नहीं किया जा सकता, उसका स्वामी नहीं बना जा सकता। भारतीय परम्परा में पति को स्वामी का दर्जा दिया गया है इस स्वामी का अर्थ ही है कि— व्यक्ति पत्नी का मालिक है और पत्नी आपके अधीन है, दास है। इस तथ्य का साक्षात् उदाहरण भारत भर के प्रान्तों में, जनपदों में और राज्यों में देखा जा सकता है। इस बात से कोई इनकार भी नहीं कर सकता। आज व्यक्तियों को इस तथ्य की जानकारी हो न हो पर इस स्वामी के पीछे की भावना यही है। जब व्यक्ति दूसरे का मालिक होता है तब सारे अधिकार, मर्जी, रूचि सभी कुछ मालिक के अधीन हो जाता है। दूसरा व्यक्ति इस दमन को प्रदर्शित करे या न करे पर हिंसा तो हो ही जाती है। इसी मालिक होने की आकांक्षा से पूरा विश्व ग्रसित है इसलिए एक पक्ष स्वामी होने का दावा करता है और दूसरा पक्ष उससे उबरना चाहता है और दो पक्षों के मध्य निरन्तर द्वन्द, तनाव की स्थिति निर्मित रहती है। बिना हिंसा किये स्वतंत्रता से आज तक किसी ने गुलाम होना स्वीकार नहीं किया। अतः परिग्रह का अर्थ है — स्वामित्व की आकांक्षा। दूसरे का स्वामी होने में दुःख के सिवाय कुछ हासिल नहीं होता अपितु मालिक होना सुख की बात है और जैसे ही व्यक्ति स्वयं का मालिक हो जाता है उसके अंदर दूसरे का मालिक होने का भाव, दूसरे पर राज करने की वासना तिरोहित हो जाती है।

"मालिकियत दोहरी परतंत्रता है" (ओशो, 2003)<sup>8</sup>। जिसका स्वामी व्यक्ति बनता है दूसरा तो उसका दास बनता ही है, पहला व्यक्ति भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में दूसरे का गुलाम बन जाता है। बिना एक दूसरे के उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। गुलामों के बिना सम्राटों का अस्तित्व नहीं है और सम्राट के बिना गुलामों का कोई ठिकाना नहीं है। सम्राट गुलाम है भय का, क्योंकि जिन्हें व्यक्ति परतंत्र करता है, उन्हें वह भयभीत कर देता है और जिन्हें व्यक्ति परतंत्र कर रहा है, बंधक बना रहा है उनकी तरफ से व्यक्ति के प्रति विद्रोह शुरू हो जाता है। जिन्हें वह परतंत्र बनाना चाहता है, वे भी उसे परतंत्र बनाने की दृढ़ इच्छा रखते हैं।

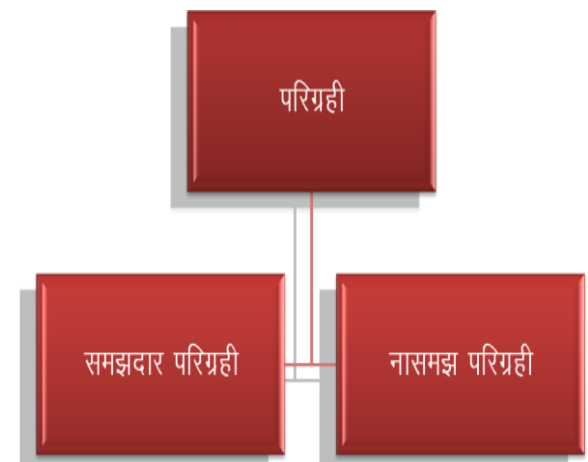
मालिक और गुलाम में इतना ही फर्क है कि — एक की गुलामी दृश्य होती है और दूसरे की गुलामी — अदृश्य। व्यक्ति जिसे गुलाम बनाता है वह भी उसे गुलाम बना सकते हैं इसमें कोई ज्यादा फर्क नहीं है। वे बड़े गुलाम हैं जिन्हें दूसरों के स्वामी होने का भ्रम है। आदमी अंदर से बहुत खाली है, रिक्त है और इस रिक्तता को व्यक्ति बाहर की वस्तुओं से भरना चाहता है पर ये सर्वथा सत्य है कि "किसी व्यक्ति को परतंत्र करके स्वयं स्वतंत्र

नहीं हुआ जा सकता। परिग्रह इसी भ्रांति का नाम है" (ओशो, 2003)<sup>9</sup>।

"जिदंगी के अनूठे—अबूझ रहस्यों में एक यह है कि परिग्रह की बड़ी गहराइयाँ हैं। उसके सूक्ष्मतम हिस्सों को समझना अतिआवश्यक है। परिग्रह की पहली कोशिश, पहला प्रभाव यह है कि व्यक्ति यह भूल जाये कि वह परतंत्र है, वह सीमित है तथा वह अपना मालिक, अपना स्वामी स्वयं नहीं है" (ओशो 2003)<sup>10</sup>। व्यक्ति सत्य से, तथ्य से कितना भी भागे, बचे पर वह इस विचार को भूल नहीं सकता कि 'मैं मालिक नहीं हूँ' 'कितनी भी कोशिश करूँ मगर सारे प्रयत्न विफल हैं सच तो यह है कि मैं स्वयं का मालिक नहीं हूँ और जैसे—जैसे उसे पता चलता है कि वह मालिक नहीं है, वह मालिक होने की दिशा बदल देता है, वह बाहर की दिशा में उसका फेलाव करता है, विस्तार करता है। बाहर उसके स्वामी होने का एहसास जितना दृढ़ होता है वह उतनी देर के लिए अपनी हीनता से, हीनता—ग्रंथि से बच जाता है पर वास्तविकता फिर भी सामने आती ही है और व्यक्ति हीनता—ग्रंथि से बच नहीं पाता।

भीतर से सारे व्यक्ति रिक्त हैं, अधूरे हैं। जब तक ज्ञान नहीं है तब तक व्यक्ति संसार को विभिन्न सामग्रियों से, श्रृंगार से, विलासिता से, यश, पद, रिप्ते, प्रतिष्ठाओं से स्वयं को पूरित करने का असंभव प्रयास करता रहता है, प्रतिगमन का सहारा लेता है या विस्थापन का सहारा लेता है। अतः भीतर की रिक्तता को भरने का प्रयास ही परिग्रह है।

परिग्रही की हिंसा इस तरह की है कि जिसे भी लोग अपना करीबी जानेंगे, आत्मीय कहेंगे उसे विभिन्न उपक्रमों से अनुशासन, मर्यादा, नियम से बंधक बनाते जाते हैं। इसी से पहला व्यक्ति आष्वस्त होता है। लेकिन जैसे ही व्यक्ति किसी को अपना दास बनाता है उसका सारा उत्साह, सारा मजा खत्म हो जाता है, जिस वस्तु को पाता है उस पर का सारा उल्लास खत्म हो जाता है इसलिए व्यक्ति एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी वस्तु पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर देता है। इस तरह से जो परिग्रही हैं वे दो प्रकार से बाँटे जा सकते हैं —



समझदार परिग्रही व्यक्तियों के बजाय वस्तुओं पर अपना आधिपत्य जमाना आरंभ कर देता है क्योंकि

इसमें मेहनत कम है, यह ज्यादा सुविधाजनक भी है। ऐसे परिग्रही धन, पद आदि का संग्रह करने लगते हैं क्योंकि ये जड़ चीजे हैं ये विद्रोह नहीं कर सकती और मालकियत का भाव ज्यादा समय तक स्थायी रहता है।

जो नासमझ परिग्रही हैं, वे व्यक्तियों पर मेहनत करते हैं। इसमें हमेशा अस्थायीपन, भय, द्वन्द बना रहता है। ये दोनों परिग्रही हैं दोनों ही की मेहनत व्यर्थ है, वे अज्ञानी हैं।

परिग्रही चित्त हमेशा आशा से बँधा रहता है, झूठी चीजों में वह आशा रखता है। वह विसमायोजनात्मक प्रतिक्रियाओं का सहारा लेता है, वह अपने अनुभवों से कुछ नहीं सीखता। व्यक्ति अपने अनुभवों को भूलता चला जाता है और व्यर्थ की झूठी आशा का दामन थामा रहता है। व्यक्ति जन्मों-जन्मों के अनुभवों से भी कुछ नहीं सीखता और व्यक्ति आत्मा की बजाय वस्तुओं पर मोहित होता चला जाता है। लेकिन व्यक्ति कितनी भी तरक्की कर ले वस्तु को आत्मा नहीं बना सकता। आशा कभी उपलब्धि नहीं बनती, वासना कभी तृप्ति नहीं बनती, कामना कभी पूर्ण नहीं होती। व्यक्ति स्वयं को लगातार धोखा देता चला जाता है।

### परिग्रह एक मूर्छा

परिग्रह एक मूर्छा है यह एक प्रकार की बेहोशी है। इससे बढ़कर उसका कोई अर्थ नहीं, कोई अस्तित्व नहीं है। महावीर<sup>11</sup> इसे समझाते हुए कहते हैं –

“न सो परिग्रहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।

मुच्छा परिग्रहो वुत्तो, इय वुत्तं महसिणा”।।

“लोहस्सेस अणुप्पोसो, मन्ने अन्नयरामवि।

जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से”।।

अर्थात् प्राणीमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र(भगवान महावीर) ने “कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है। लेकिन इन सामग्रियों से, ममता व मूर्छा रखना ही परिग्रह है”, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।

अर्थात् संग्रह करना, यह अन्दर रहने वाले लोभ की झलक है। अतएव जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं वे गृहस्थ हैं, साधु नहीं।

महावीर कहते हैं साधुता और ग्राह्यस्थ एक आन्तरिक घटना है। सामग्रियों में आसक्ति, ममता और मूर्छा रखना ही परिग्रह है। मूर्छा ही परिग्रह है यह एक प्रकार की अचेतनावस्था की बेहोशी है। जब व्यक्ति किसी वस्तु के लिए जीने लग जाता है तब मूर्छा(बेहोशी) की शुरुआत होती है। व्यक्ति अपने आप से ज्यादा महत्व वस्तुओं को देने लगता है, वह वस्तुओं को ही सब कुछ मानने लगता है और जब वस्तुएँ ही व्यक्ति का लक्ष्य बन जाती है साध्य हो जाती हैं, तब मूर्छा की उत्पत्ति होती है। वस्तुएँ जब व्यक्ति से, आत्मा से ज्यादा मूल्यवान हो जाती है, तो मूर्छा है। “वस्तुओं की पकड़ गरीबी का लक्षण है और दान, छोड़ना मालकियत का, स्वामित्व का लक्षण है। जो आदमी दे सकता है वह यह घोषित करने का अधिकारी हो जाता है कि वस्तु आत्मा से मूल्यवान नहीं है उसे आत्मा से ज्यादा महत्व नहीं दिया जा सकता”(ओशो,2003)<sup>12</sup>।

संसारी प्राणी वस्तुओं से सम्मोहित होते हैं, इसका सीधा अर्थ यह है कि हम इस भ्रांति सम्मोहित हो सकते हैं कि हमारी आत्मा वस्तुओं में प्रवेश कर जाये। अपनी वास्तविकता से बाहर बह जाना और किसी से जुड़ जाना और ऐसा अनुभव करना कि उसके मिले बिना सुख न होगा, यह सम्मोहन का लक्षण है। जब ऐसा प्रतीत होने लग जाये कि उसके बिना सुख होगा ही नहीं तो व्यक्ति को समझ आ जाना चाहिए कि वह सम्मोहित हो चुका है। व्यक्ति चौबीसों घण्टे सम्मोहन में रहता है और उसने पूरा उपाय भी कर रखा होता है कि यह सम्मोहन टूटे न क्योंकि व्यक्ति का सारा व्यवसाय, जीवन सम्मोहन पर खड़ा है। व्यक्ति चौरासी लाख योनि में भटकने के बाद भी वस्तुओं से अपना नाता नहीं तोड़ पाता वह लगातार भवचक्र में भटकता रहता है।

मूर्च्छा का अर्थ है – कोई वस्तु व्यक्ति को इस भाँति किसी को पकड़ ले कि उसके मन में ये भाव पैदा हो जाये कि इसके बिना अब कोई सुख नहीं मिल सकता। महावीर कहते हैं जिस आदमी में ऐसा भाव पैदा हो गया, उसको दुःख ही मिलेगा। जब तक वस्तु न मिलेगी, तब तक उसे लगेगा कि इसके बिना सुख नहीं मिलेगा। तो वस्तु के कारण दिखाई नहीं पड़ रहा था कि सुख मिलेगा, यह व्यक्ति का सम्मोहन है। यह वस्तु मिलते ही टूट जायेगा।

“कष्ट और दुःख में बड़ा अंतर है। कष्ट का मतलब – अभाव और दुःख का मतलब है – भाव”(ओशो,1972)<sup>13</sup>। कष्ट व्यक्ति उस चीज से उदाता है जो उसे नहीं मिली है, जिसमें व्यक्ति को आशा है कि मिल जाये तो सुख मिलेगा। आशा के सहारे कितना भी कष्ट हो अभाव हो, व्यक्ति झेल लेता है लेकिन जब आशा आपके हाथ में आ जाती है तब तत्क्षण सब गहन विषाद हो जाता है। जितनी आशाएँ बाँधी थीं जितने सपने देखे थे, वे सब तिरोहित हो जाते हैं। आदमी विषाद में घिर जाता है। “कष्ट कभी इतना कष्टपूर्ण नहीं होता, जितना दुःख। क्योंकि दुःख आन्तरिक हताशा है और कष्ट बाहरी अभाव है, लेकिन भीतर आशा भरी रहती है” (ओशो,1972)<sup>14</sup>।

सम्मोहन का अर्थ है – “जहाँ-जहाँ हम सोचते हैं कि सुख छिपा है, वहाँ-वहाँ पहुँच कर दुःखी होंगे”(ओशो,1972)<sup>15</sup>। क्योंकि वह व्यक्ति की आशा थी, जगत् का अस्तित्व नहीं था वह जगत् का आश्वासन नहीं था, व्यक्ति की कामना थी। वह व्यक्ति ने ही सोचा था, कल्पित किया था, वह सुख व्यक्ति ने ही आरोपित किया था।

ध्यान से देखा जाये तो व्यक्ति वस्तुओं में नहीं जीते उसके साथ जुड़े ‘और’ के सम्मोहन में जीते हैं। जैसे ही ‘वह’ मिल जाता है व्यक्ति का ‘और’ आगे बढ़ जाता है फिर वही प्रक्रिया चलने लगती है। वासना का दायरा बढ़ता चला जाता है, और का सम्मोहन, लोभ बढ़ता चला जाता है, पर तृप्ति कभी नहीं मिलती। इसे ही महावीर मूर्च्छा कहते हैं। “मूर्च्छा परिग्रह है, वस्तु वस्तु है यही सत्य है उसमें ज्यादा की आशा रखना गलत है” (प्रीति, 2010)<sup>16</sup>। तीव्र आकाँक्षाएँ तीव्र आसक्ति को जन्म देती है और आसक्ति परिग्रह को केन्द्रित बना देती है, जो

महापरिग्रह के रूप में परिणित हो जाता है यह न तो सामाजिक हित में है और न धार्मिक दृष्टि से हितावह है। "मूर्च्छा रूपी अग्नि के माध्यम से व्यक्ति की आत्मा तप्त है, पीड़ित है और इसी के माध्यम से व्यक्ति कर्म के बन्धन में जकड़ा हुआ है। आत्मा की शक्ति इसी कारण समाप्त हो गयी है" (तुलसी, 2010)<sup>17</sup>।

संग्रह करना, यह अन्दर रहने वाले लोभ की झलक है। बाहर हम जो भी करते हैं, वह भीतर की झलक है। बाहर का हमारा सारा व्यवहार हमारे अन्तस् का फेलाव है। इसीलिए पाष्वात्य मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन करता है और उसके आधार पर अपने निष्कर्ष निकालता है जो कि बहुत सीमा तक सही निष्कर्ष देता है। भीतर का खालीपन लोभ है। जब एक आदमी बाहर संग्रह करता है तो वह इस बात को प्रदर्शित करता है कि वह भीतरी तौर पर खाली है। इस लोभ को व्यक्ति अनेक ढंग से भर सकता है ज्ञान से, त्याग से, धन से, अधिक से अधिक तप से, सबकुछ का संग्रह भीतरी लोभ की ही झलक है। व्यक्ति इसे किसी भी चीज से भरे पर भौतिक वस्तुएँ भीतर नहीं जा सकती, फिर वह कौन सी वस्तु है जो अन्दर जा सकती है ? चूँकि आत्मा कोई चीज नहीं इसलिए वह खाली दिखायी पड़ती है और लोग वस्तुओं से अपने आप को भरते जाते हैं पर कभी कोई भराव पैदा नहीं होता लेकिन व्यक्ति ऐसा करते- करते बाध्यता ग्रंथि का षिकार हो जाता है और किसी भी तरह उससे छूट नहीं पाता। महावीर के अनुसार आत्मा तो अपने से, स्वयं से भरी है उसे किसी और से भरना असंभव है। जिस दिन उसका भरापन व्यक्ति को पता चल जाता है उसी दिन लोभ तिरोहित हो जाता है।

जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, ऐसे लोग ग्राहस्थ हैं – साधु नहीं, किसी भी चीज का संग्रह करते हैं इसमें उन्हें अन्तर नहीं दिखायी पड़ता। यदि संग्रह कर रहा है तो व्यक्ति ग्राहस्थ है। वस्तुओं का आप के पास होना ही केवल व्यक्ति को ग्राहस्थ नहीं बनाता, बल्कि चीजों को पकड़ना व्यक्ति को ग्राहस्थ बनाता है। जैन दर्शन इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति भीतर में क्या है? बाहर से क्या है, इसका ज्यादा मोल नहीं है। इसलिए सदा भीतर निरीक्षण करना पड़ता है कि भीतर से मैं क्या हूँ ? वस्तुओं को पकड़ता हूँ, संग्रह करता हूँ, वस्तु न होगी तो मैं मर जाऊँगा? मैं केवल वस्तुओं का जोड़ हूँ तो मैं (व्यक्ति) एक ग्राहस्थ हूँ। इससे बचने के लिए जंगल जाना आवश्यक नहीं है, सन्यास लेना आवश्यक नहीं है इसके लिए सम्यक्-बोध की आवश्यकता है। महावीर ने सम्यक्-बोध को ज्यादा जोर इसीलिए दिया है। सम्यक् बोध मतलब हर चीज जैसी है वह वैसी ही समझ लेना। उसमें जरा सी भी, इंच भर भी अपने मन को न जोड़ना। इंच-भर भी अपनी आकांक्षाओं, आशाओं को स्थापित न करना। जो जैसा है, जितना है, उतना ही जान लेना।

#### अपरिग्रह का अर्थ

अतः अपरिग्रह परिग्रह की वृत्ति का त्याग कर देना और अपनी मूल प्रवृत्ति को समझना। अपरिग्रह खोज है इस बात की कि – मैं अपना मालिक कैसे होऊँ ? भीतर का मालिक व्यक्ति क्यों नहीं है? क्योंकि उसने स्वयं

को जाना ही नहीं, उसे सम्यक् बोध का तरीका नहीं पता। उसे परिग्रह छोड़ना नहीं आता। "धर्म कहता है कि परिग्रही का समर्थन सारे पापों का समर्थन है। व्यक्ति धर्म चाहता है किन्तु परिग्रह छोड़ना नहीं चाहता। इससे यही प्रतीत होता है कि हम अभी धर्म को नहीं जानते"(प्रीति, 2010)<sup>18</sup>। धर्म तो अपरिग्रह में है। परिग्रह द्वारा व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्मों के बंधन से ढँक रहा है, जिससे आत्मा का दर्शन दुर्लभ होता जा है इससे व्यक्ति दुःखी हो जाता है। आत्मा को कोई दूसरा सुखी नहीं बना सकता न दुःखी। व्यक्ति अपने परिणामों द्वारा दुःखी बनता है और स्वयं ही के परिणाम कारण सुखी। व्यक्ति चाहे तो रागद्वेष, मोह को मिटाकर अपने संसार को मिटा सकता है और अपने शाश्वत स्वभाव में स्थित होकर आनंद पा सकता है। यह संभाव्य है, इसमें उन्नति की गुंजाइश है, किन्तु उन्नति चाहना कठिन है। व्यक्ति पदार्थ को चाह रहा है पर निजी पदार्थ की चाह आज तक उद्भूत नहीं हुई। मोह की मूर्च्छा प्रबल है पर पदार्थ जड़ है और व्यक्ति चेतन, मोह व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता किन्तु व्यक्ति स्वयं मोह से प्रभावित होता रहता है।

"पर" में सुख मानना ही परिग्रह को अपनाना है और 'स्व' में सुख मानना परिग्रह से मुक्त होना है"(प्रीति,2010)<sup>19</sup>। सुख-शांति का एकमात्र स्थान परिग्रह रहित आत्मा है। सुख अपने भीतर है। परिग्रह से मुक्त होकर, मोक्षमार्गी होकर व्यक्ति कल्याण कर लेता है। आत्म दर्शन के लिए स्वयं को अपरिग्रह से मुक्त करना अनिवार्य है। "पदार्थ और पदार्थ-प्रयोग इन दोनों के होते हुए भी मन में लगाव या आसक्ति न हो, यही अपरिग्रह की आधारमिति है"(तुलसी, 2010)<sup>20</sup>।

अपरिग्रह का अर्थ अभाव में जीने से नहीं है। इच्छाओं में कमी होने से उपभोग एवं उपयोग में भी कमी आती है, जिसके परिणाम स्वरूप संसाधनों का दोहन और उन पर निर्भरता कम होती जाती है इसका प्रभाव हमारे पर्यावरण और वातावरण पर भी पड़ता है। अपरिग्रह और अहिंसा एक सिक्के के दो पहलू हैं। अपरिग्रह के बिना अहिंसा असंभव है और अहिंसा के बिना अपरिग्रह असंभव। महावीर के मार्ग का मुख्य सूत्र है— "अपरिग्रह और अहिंसा की एक आसन पर एक साथ उपस्थिति"(तुलसी, 2010)<sup>21</sup>। "लोगों ने तो अहिंसा के सिद्धांत को कायरता का सिद्धांत तथा अपरिग्रह के सिद्धांत को दरिद्रता की अवधारणा से प्रदर्शित किया है। शरीर, धन और पदार्थ को सुरक्षित रखने का मनोभाव कायरता के भाव पैदा करता है, वह हिंसा है। अहिंसा में उनका उत्सर्ग करने की भावना निहित होती है, इसीलिए उसमें कायरता का कोई प्रसंग ही नहीं होता और अपरिग्रह में अनावश्यक संग्रह का वर्जन है। व्यक्ति ने अपरिग्रह को दरिद्रता का संवर्धन मान रखा है और इतना अव्यवहारिक मान रखा है कि उसकी सीमा का बोध स्पष्ट नहीं होता। सापेक्ष को निरपेक्ष मानने कारण यह भ्रांति उत्पन्न हुयी है"(महाप्रज्ञ,2003)<sup>22</sup>। सुख-शांति का एकमात्र स्थान परिग्रह से रहित आत्मा है। अपरिग्रह आशा पर अनुभव की विजय है। हमारे सारे अतीत का अनुभव कहता है –

1. सब कुछ मिल जाये फिर भी कुछ नहीं मिलता।

2. हम चीजों से बँधते हैं और उनके गुलाम भी हो जाते हैं।
3. अपनी आत्मा को किसी भी तरह और तरीके से वस्तुओं से, व्यक्तियों से नहीं भरा जा सकता।

**निष्कर्ष**

अतः अपरिग्रह का अर्थ है— हमारे और व्यक्तियों के बीच का रूपांतरण। व्यक्ति—व्यक्ति है, मैं नहीं हूँ, “जिस दिन व्यक्ति वस्तुओं के उपर से मालिकियत की, स्वामित्व की, अधिकारिता की भावना को समाप्त कर देंगे इसे साध लेंगे अपरिग्रह व्यक्ति को उपलब्ध हो जायेगा और हम अपने समस्त जन्मों को जान लेंगे” (पतंजलि)<sup>23</sup> अतः हम स्वयं के मालिक बने ‘स्व’ को जाने, परीग्रह त्यागें, अपरिग्रह की साधना द्वारा ‘स्व’ को स्वयं में स्थापित करें और सभी मनोकायिक ग्रंथियों से मुक्त हो सकें।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**

1. अपरिग्रह—<http://en.wikipedia.org/wiki/Aparigraha>
2. अपरिग्रह—<http://en.wikipedia.org/wiki/Aparigraha>
3. प्रीति (2010)—परिग्रह <http://testsite.vidyasagar.net>
4. अपरिग्रह—<http://www.megaessays.com>
  - (अ) योग एवं अध्यात्म(2010)—<http://vidyalankar-yog.blogspot.com/2010/07/blog-post-21.html>
  - (ब) ओशो (2003)—अपरिग्रह, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया, ताओ पब्लिशिंग प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे, पृष्ठ – 27
5. प्रमाणसागर (1998)—आमुख, जैनधर्म और दर्शन, श्रीदिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर (म.प्र.), पृष्ठ—2
6. अपरिग्रह—<http://www.megaessays.com>
7. ओशो (2003)—अपरिग्रह, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया, ताओ पब्लिशिंग प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे, पृष्ठ – 28
8. ओशो (2003)—अपरिग्रह, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया, ताओ पब्लिशिंग प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे, पृष्ठ – 28
9. ओशो (2003) – अपरिग्रह, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया, ताओ पब्लिशिंग प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे, पृष्ठ – 28
10. ओशो (2003) – अपरिग्रह, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया, ताओ पब्लिशिंग प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे, पृष्ठ – 29
11. ओशो (1972)—अपरिग्रह सूत्र, महावीर वाणी, भाग-2, पृ.170, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ –154
12. ओशो (1972)—अपरिग्रह सूत्र, महावीर वाणी, भाग-2, पृ.170, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ –165
13. ओशो (1972) –अपरिग्रह सूत्र, महावीर वाणी, भाग-2, पृ.170, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ –169
14. ओशो (1972)—अपरिग्रह सूत्र, महावीर वाणी, भाग-2, पृ.170, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ –170
15. ओशो (1972) –अपरिग्रह सूत्र, महावीर वाणी, भाग-2, पृ.170, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ –167
16. प्रीति (2010)—परिग्रह <http://testsite.vidyasagar.net>
17. तुलसी, आचार्य (2010) – परिग्रह का अल्पीकरण, अणुव्रत गति—प्रगति, <http://www.samaylive.com/lifestyle-news-in-hindi/religion-news-in-hindi>
18. प्रीति (2010)—परिग्रह, <http://testsite.vidyasagar.net>
19. तुलसी, आचार्य (2010)— परिग्रह का अल्पीकरण, अणुव्रत गति—प्रगति, <http://samaylive.com/lifestyle-news-in-hindi/religion-news-in-hindi>
20. तुलसी, आचार्य (2010) – परिग्रह का अल्पीकरण, अणुव्रत गति—प्रगति, <http://samaylive.com/lifestyle-news-in-hindi/religion-news-in-hindi>
21. महाप्रज्ञ, आचार्य (2003) – अपरिग्रह और अहिंसा का दर्शन, प्रज्ञा पब्लिक, <http://twitter.com/pragyapakshik/status>
22. पतंजलि (2010)—योगदर्शन, द्वितीय साधनपादः (8), <http://knol.google.com/k/prashant-bhatia>
23. 24.अखंड ज्योति (2014)— मार्च, पेज 46 अपरिग्रह की अद्भुत है महिमा, <http://literature.awgp.org/akhandjyoti/2010/March/v1.44>
24. गिरी, अवधेशानंद (2008) –अपरिग्रह की महिमाए <http://literature.awgp.org/akhandjyoti/2010/March/v1.43>
25. विद्यासागर (2018)— धर्म संस्कृति 4 संस्कृति प्रवाह 52, <https://vidyasagar.guru/>
26. मिश्र, ब्रज कुमार( 2016) –मानस रोग असामान्य मनोविज्ञान एक संक्षिप्त परिचय, पी एच लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली 490